अठारहवाँ अध्याय

मुग़ल साम्राज्य का चरमोत्कर्ष और विघटन-1

उत्तराधिकार की समस्याएँ

शाहजहाँ के शासन के अंतिम वर्ष उसके बेटों के बीच उत्तराधिकार के तीव्र संघर्ष से संकटापन्न रहे। तैमूरियों के बीच उत्तराधिकार की कोई स्पष्ट परंपरा नहीं थी। कुछ मुसलमान राजनीतिक चिंतकों ने राजा के अपना उत्तराधिकारी चुनने के अधिकार को स्वीकृति दी थी। लेकिन सल्तनत काल में भारत में यह अधिकार प्रतिष्ठित नहीं हो पाया। तैमूरियों की राज्य को सभी उत्तराधिकारियों के बीच बांट देने की परंपरा भी सफल नहीं रही थी और भारत में तो वह लागू भी नहीं की गई।

उत्तराधिकार के मामले में हिंदू परंपराएँ भी बहुत स्पष्ट नहीं थीं। अकबर के समकालीन तुलसीदास के अनुसार राजा को अपने किसी भी पुत्र को राजतिलक के लिए चुनने का अधिकार था। लेकिन राजपूतों के बीच ऐसे बहुत-से प्रसंग उठे जब इस तरह की नामज़दगी को दूसरे भाइयों ने मंज़ूर नहीं किया। उदाहरण के लिए सांगा को गद्दी पर अपना अधिकार प्रतिष्ठित करने के लिए अपने भाइयों से कठिन संघर्ष करना पड़ा था।

1657 ई. के अंतिम महीनों में शाहजहाँ दिल्ली में बीमार हो गया और उसके बचने की आशा नहीं रह गई। लेकिन वह ठीक हो गया और अपने प्रिय पुत्र दारा की शुश्रूषा से धीरे-धीरे उसमें शक्ति भी आ गई। इस बीच तरह-तरह की अफवाहें फैल गई थीं जैसे यह कि शाहजहाँ मर चुका है, और दारा इस बात पर अपना मतलब साधने के लिए पर्दा डाले हुए है। कुछ समय बाद शाहजहाँ जैसे-तैसे आगरा पहुँचा। इस बीच बंगाल में शाहज़ादा शुजा को, गुजरात में मुराद को और दकन में औरंगज़ेब को या तो यह विश्वास हो चला था कि शाहजहाँ की मृत्यु की अफवाह सच है या वे ऐसा मानने का दिखावा कर रहे थे और साथ ही उत्तराधिकार के लिए होने वाले अनिवार्य युद्ध के लिए तैयारियों में लगे हुए थे।

अपने बेटों के बीच संघर्ष टालने की फ़िक्र में और अपनी मृत्यु को निकट देख कर शाहजहाँ ने दारा को अपना वली-अहद या उत्तराधिकारी चुनने का फ़ैसला किया। उसने दारा के मनसब को 40,000 जात से बढ़ा कर 60,000 कर दिया जो बेमिसाल था। दारा को शाही गद्दी की बगल में आसन दिया गया और सभी सरदारों को दारा को अपना भावी शहंशाह मानकर उसके आदेशों का

पालन करने का निर्देश दिया गया। शाहजहाँ को आशा थी कि इन कार्रवाइयों से उत्तराधिकार का मसला शांतिपूर्वक सुलझ जाएगा और मुग़ल साम्राज्य विनाश से बच जाएगा। लेकिन हुआ इससे उल्टा ही। अब बाकी तीन शहज़ादों को दारा के प्रति शाहजहाँ के पक्षपात पूर्ण व्यवहार में कोई संदेह नहीं रह गया। इससे गद्दी हासिल करने के लिए संघर्ष करने के लिए उनका इरादा और भी पक्का हो गया।

इस उत्तराधिकार युद्ध के अंत में औरंगज़ेब की विजय तक की घटनाओं का विशद वर्णन करने की ज़रूरत यहाँ नहीं है। उसकी सफलताओं के कई कारण थे। सलाहकारों में मतभेद और अपने विरोधी की शक्ति को कम करके आँकना दारा की पराजय के दो प्रमुख कारण थे। अपने बेटों की सैनिक तैयारियों और राजधानी की ओर कूच करने के उनके फ़ैसले की जानकारी मिलने पर शाहजहाँ ने दारा के बेटे सुलेमान शिकोह के नेतृत्व में एक सेना शुजा से निबटने के लिए पूर्व की ओर भेजी। सुलेमान की मदद में मिर्ज़ा राजा जयसिंह भी था। इस बीच शुजा ने स्वयं ही राजमुकुट धारण कर लिया था। जोधपुर के राजा जसवंत सिंह के नेतृत्व में एक सेना मालवा भेजी गई। मालवा पहुँचने पर जसवंत सिंह ने देखा कि उसका सामना तो औरंगज़ेब और मुराद की संयुक्त सेना से होने वाला है। दोनों शाहज़ादे संघर्ष पर आमादा थे और उन्होंने जसवंत सिंह से अलग हट जाने को कहा। जसवंत सिंह वापस लौट सकता था, लेकिन इस तरह लौटने में अपनी हेठी देखकर उसने डटे रहने और दो-दो हाथ करने का फ़ैसला किया, यद्यपि परिस्थिति निश्चित रूप से उसके प्रतिकूल थी। धरमट में औरंगज़ेब की विजय (15 अप्रैल 1658 ई.) से औरंगज़ेब के समर्थकों का मनोबल और उसकी प्रतिष्ठा बढ़ी, जबकि दारा और उसके समर्थक हतोत्साह हुए।

इस बीच दारा ने एक गंभीर भूल की। अपनी स्थिति की मज़बूती के बारे में ज़रूरत से ज्यादा आश्वस्त वली-अहद ने अपने कुछ उत्कृष्ट सैनिकों को पूर्वी अभियान के लिए भेज दिया था। इस प्रकार उसने राजधानी आगरा को कमज़ोर बना दिया था। सुलेमान शिकोह के नेतृत्व में सेना पूर्व की ओर बढ़ी और उसने अपनी कूवत का अच्छा परिचय दिया। उसने शुजा को बेखबरी की हालत में घेर लिया और बनारस के निकट उसे पराजित कर दिया (फरवरी 1658 ई.)। फिर उसने बिहार में उसका पीछा करने का फ़ैसला किया, मानों आगरा में किस्मत का फ़ैसला पहले ही हो चुका हो। धरमट की पराजय के बाद इस सेना को तुरंत आगरा लौटने का बुलावा भेजा गया। शुजा के साथ जैसे-तैसे एक कामचलाऊ संधि करके (7मई 1658 ई.) सुलेमान शिकोह ने पूर्वी बिहार के मुंगेर नामक स्थान में जमाए गए अपने शिविर से आगरा की वापसी यात्रा आरंभ की। लेकिन औरंगज़ेब का मुकाबला करने के लिए समय पर उसके आगरा पहुँचने की कोई संभावना नहीं रह गई थी।

धरमट के बाद दारा ने मित्रों से मदद हासिल करने की जी तोड़ कोशिश की। धरमट के बाद जसवंत सिंह जोधपुर में जा बैठा था। दारा ने उसे कई पत्र भेजकर उससे मदद के लिए आने का अनुरोध किया। उदयपुर के राणा से भी मदद माँगी गई। जसवंत सिंह आराम से अजमेर के

निकट पुष्कर नामक स्थान तक आया। दारा के दिए पैसे से एक सेना खड़ी करके वह राणा के आने का इंतजार करने लगा। लेकिन राणा को औरंगज़ेब अपने पक्ष में मिला चुका था। उसने राणा से वादा किया था कि वह उसे सात हजारी दर्जा देगा और नए सिरे से चित्तौड़ की किलेबंदी करने को लेकर उठे विवाद के बाद शाहजहाँ और दारा ने उसके जो परगने छीन लिए थे वे उसे लौटा दिए जाएँगे उसने राणा की धार्मिक स्वतंत्रता का और "राणा सांगा को बराबरी की प्रतिष्ठा देने" का भी वचन दिया था। इस प्रकार, दारा महत्वपूर्ण राजपूत राजाओं का समर्थन पाने में भी विफल रहा।

सामूगढ़ की लड़ाई (29 मई 1658 ई.) मुख्यतः अच्छे सेनापतित्व पर दारोमदार रखनेवाली लड़ाई थी, क्योंकि दोनों पक्षों के सैनिकों की संख्या लगभग बराबर थी (प्रत्येक पक्ष में 50 से 60 हजार)। मगर सेनापतित्व के क्षेत्र में दारा औरंगज़ेब के मुकाबले कहीं नहीं टिकता था। दारा मुख्य रूप से हाड़ा राजपूतों और बरहा के सैयदों पर भरोसा कर रहा था। लेकिन जल्दी में खड़ी की गई बाकी की सेना की कमजोरी की भरपाई ये दो वाहिनियाँ नहीं कर सकती थीं। औरंगज़ेब के सैनिक लगातार चलनेवाली लड़ाइयों की आग से कुंदन होकर निकले थे और उन्हें बेहतर नेतृत्व प्राप्त था।

इन तमाम हलचलों के बीच औरंगज़ेब लगातार यह नाटक करता आ रहा था कि वह तो सिर्फ अपने पिता से मिलने आए "काफ़िर" दारा के चंगुल से उसे छुड़ाने के लिए आगरा पहुँचना चाहता था, लेकिन औरंगज़ेब और दारा के बीच की लड़ाई धार्मिक रूढ़िवादिता और धार्मिक उदारता के बीच की लड़ाई नहीं थी। इन दोनों प्रतिद्वंद्वियों के बीच हिंदू और मुसलमान सरदार बराबर-बराबर बँटे हुए थे। प्रमुख राजपूत राजाओं के रुख का ज़िक्र हम ऊपर कर चुके हैं। अन्य अनेक संघर्षों की तरह इस लड़ाई में भी सरदारों का रुख, उनके व्यक्तिगत स्वार्थ और दोनों शहज़ादों के साथ उनके अपने-अपने व्यक्तिगत संबंधों पर निर्भर था।

दारा की पराजय और पलायन के बाद शाहजहाँ को आगरा के किले में घेर लिया गया। किले के जलस्रोत को काटकर औरंगज़ेब ने बादशाह को आत्मसमर्पण करने पर विवश कर दिया। शाहजहाँ को किले के जनानखाने में नज़रबंद कर दिया गया। उस पर कड़ी निगरानी तो रखी जाती थी। लेकिन उसके साथ कोई दुर्व्यवहार नहीं किया गया। वहाँ उसने आठ वर्षों की लंबी अवधि गुजारी। इस दौरान उसकी प्यारी बेटी जहाँआरा उसकी सेवा-शुश्रूषा करती रही। जहाँआरा ने स्वेच्छा से किले के अंदर ही रहने का फैसला किया था। शाहजहाँ की मृत्यु के उपरांत वह दुबारा सार्वजनिक जीवन में आई और औरंगज़ेब ने उसे भरपूर सम्मान देते हुए उसे साम्राज्य की प्रथम नारी का दर्जा दिया और उसकी पेंशन बारह लाख से बढ़ाकर सत्रह लाख कर दी।

मुराद के साथ औरंगज़ेब के समझौते की शर्तों के अनुसार राज्य को दोनों भाइयों के बीच बाँट लिया जाना था। लेकिन औरंगज़ेब साम्राज्य में किसी की हिस्सेदारी नहीं चाहता था। सो उसने धोखे से मुराद को कैद करके ग्वालियर की जेल में डाल दिया। दो साल बाद उसकी हत्या कर दी गई।

सामूगढ़ की लड़ाई हारने के बाद दारा लाहौर

भाग गया था और उसका इरादा उसके आसपास के इलाकों पर अपना नियंत्रण कायम रखने का था। लेकिन औरंगज़ेब शीघ्र ही एक बड़ी फ़ौज के साथ लाहौर के निकट पहुँच गया। अब दारा का साहस छूट गया। वह औरंगज़ेब से कोई लड़ाई लड़े बिना लाहौर छोड़कर सिंध भाग गया। इस तरह उसने एक तरह से अपनी किस्मत का वारा-न्यारा कर लिया। यद्यपि यह गृहकलह दो साल और चलता रहा तथापि उसके परिणाम के बारे में अब कोई शंका नहीं रह गई थी। बाद में दारा का मारवाड़ के राजा जसवंत सिंह के निमंत्रण पर गुजरात से अजमेर जाना और उसके साथ जसवंत सिंह की धोखेबाजी सुविदित है।

अजमेर के निकट देवराल की लड़ाई (मार्च 1659 ई.) औरंगज़ेब के खिलाफ दारा की आखिरी बड़ी लड़ाई थी। दारा भाग कर ईरान जा सकता था, लेकिन वह अफ़गानिस्तान में फिर भाग्य आजमाना चाहता था। रास्ते में बोलान दर्रे में एक कपटी अफ़गान सरदार ने उसे कैद करके औरंगज़ेब के हवाले कर दिया। विधिवेत्ताओं की एक मंडली ने फतवा दिया कि – "इस्लाम और इस्लामी कानून की रक्षा की खातिर, और साथ ही राज्य के हक में (एवं) सार्वजनिक शांति के 'शत्रु' दारा को जिंदा नहीं रहने दिया जा सकता। यह अपना राजनीतिक मतलब साधने के लिए औरंगज़ेब द्वारा धर्म के इस्तेमाल का ज्वलंत उदाहरण है। दारा को मृत्युदंड दिया गया जिसके दो साल बाद गढ़वाल के राजा ने औरंगज़ेब के हमले की आशंका से डरकर दारा के बेटे सुलेमान औरंगज़ेब शिकोह को, जिसने उसके यहाँ शरण ली थी, औरंगज़ेब को सौंप दिया। शीघ्र ही उसका भी हश्र वही हुआ जो उसके पिता का हुआ था"।

इसके पूर्व औरंगज़ेब ने इलाहाबाद के निकट खजवा में शुजा को हरा दिया था (दिसंबर 1658 ई.)। उसके खिलाफ़ आगे की लड़ाई जारी रखने की जिम्मेदारी मीर जुमला को सौंपी गई। उसने बराबर शुजा पर दबाव बनाए रखा और शुजा भागता रहा। आखिर वह देश छोड़ कर अराकान चला गया (अप्रैल 1660 ई.)। इसके कुछ ही दिन बाद अराकान में विद्रोह भड़काने की कोशिश करने के इल्ज़ाम में अराकानियों ने उसे सपरिवार मौत के घाट उतार दिया। शुजा की इस अपमानजनक मृत्यु के साथ ही औरंगज़ेब के मार्ग का यह काँटा भी खत्म हो गया।

दो साल से अधिक समय तक चलनेवाले इस गृहयुद्ध से स्पष्ट हो गया कि गद्दी के दावेदार न तो राजा द्वारा उत्तराधिकारी के चयन के नियम को मानने को तैयार थे और न राज्य के विभाजन को। सैनिक शक्ति उत्तराधिकार की एक मात्र निर्णायक थी और गृहयुद्ध उत्तरोत्तर अधिकाधिक विनाशकारी होते गए। सिंहासन पर निरापद होकर बैठ जाने के बाद औरंगज़ेब ने उत्तराधिकार के लिए भाइयों के बीच की जानलेवा लड़ाइयों की मुगल परंपरा के कुपरिणामों का किसी हद तक मार्जन करने का प्रयत्न किया। जहाँआरा बेगम के कहने पर दारा के बेटे सिपिहर शिकोह को 1673 ई. में रिहा करके एक मनसब दे दिया गया था तथा औरंगज़ेब की एक बेटी से उसका निकाह कर दिया गया। मुराद के बेटे इज्ज़तबख्श को भी मुक्त करके मनसब प्रदान किया गया और औरंगज़ेब की एक दूसरी बेटी से ब्याह दिया गया। दारा की जानी बेगम नामकी एक बेटी भी थी जिसे जहाँआरा

ने अपनी ही बेटी की तरह पाला था। 1669 ई. में उसका विवाह औरंगज़ेब के तीसरे बेटे मुहम्मद आज़म से कर दिया गया था। औरंगज़ेब के परिवार और उसके पराजित भाइयों के परिवारों, बेटे-बेटियों तथा पोते-पोतियों के बीच और भी कई वैवाहिक संबंध स्थापित हुए। इस प्रकार तीसरी पीढ़ी में औरंगज़ेब और उसके पराजित भाइयों के परिवार एक हो गए।

औरंगज़ेब का शासनकाल – उसकी धार्मिक नीति

औरंगज़ेब ने लगभग 50 वर्षों तक शासन किया। उसके दीर्घ शासनकाल में मुगल साम्राज्य अपने प्रादेशिक विस्तार की पराकाष्ठा पर पहुँच गया था। अपने उत्कर्ष के वर्षों में वह उत्तर में कश्मीर से लेकर दक्षिण में जिंजी तक और पश्चिम में हिंदुकुश से लेकर पूरब में चटगाँव तक फैला हुआ था। औरंगज़ेब बहुत ही कर्मठ शासक साबित हुआ और शासन-कार्यों के मामले में न तो उसने स्वयं कभी शिथिलता बरती और न अपने मातहतों को बरतने दी। 1686 ई. में उसने शहज़ादा मुअज़्ज़म को, गोलकुंडा शासक के साथ मिलकर साज़िश करने के आरोप में कैद कर लिया और 12 वर्षों का लंबा समय उसे कारावास में बिताना पड़ा। विभिन्न अवसरों पर उसके अन्य बेटों को भी उसका कोपभाजन बनना पड़ा था। उसका आतंक इतना अधिक था कि जब वह बूढ़ा हो चला था तभी भी जब-कभी मुअज़्ज़म को, जो उन दिनों काबुल का सूबेदार था, अपने पिता का कोई पत्र प्राप्त होता था तो वह डर से काँपने लगता था। अपने पूर्ववर्ती शहंशाहों के विपरीत, औरंगज़ेब को आडंबर और

तामझाम पसंद नहीं था। उसका व्यक्तिगत जीवन बहुत सादा था। उसकी ख्याति एक कट्टरतावादी और ईश्वर से डरने वाले मुसलमान के रूप में थी। कालांतर में उसे "ज़िंदा पीर" कहा जाने लगा था।

परंतु इतिहासकारों में एक शासक के रूप में औरंगज़ेब की उपलब्धियों के संबंध में गहरा मतभेद है। कुछ इतिहासकारों के अनुसार, उसने अकबर की धार्मिक सहिष्णुता की नीति को उलट कर साम्राज्य को हिंदुओं की वफ़ादारी से वंचित कर दिया। उनके अनुसार, इसके फलस्वरूप जन-विद्रोह भड़क उठे, जिससे साम्राज्य की शक्ति क्षीण हो गई। उसके शक्की मिजाज खां के शब्दों में, "उसके सारे उपक्रम बहुत लंबा खिंचते थे" और उनका अंत नाकामयाबी में होता था। लेकिन कुछ दूसरे इतिहासकारों का विचार है कि औरंगज़ेब पर नाहक दोषारोपण किया गया है। उनके अनुसार हिंदू औरंगज़ेब के पूर्ववर्ती शहंशाहों की शिथिलता के कारण ग़ैर-वफ़ादार हो गए थे, जिससे मजबूर होकर आखिर उसे कड़े कदम उठाने पड़े और मुसलमानों का समर्थन प्राप्त करने की खास कोशिश करनी पड़ी, क्योंकि साम्राज्य अंततः टिका हुआ तो उन्हीं के समर्थन पर था। परंतु औरंगज़ेब के संबंध में लिखी गई हाल की कृतियों में एक नई दृष्टि उभरी है और कोशिश यह की गई है कि औरंगज़ेब की राजनीतिक एवं धार्मिक नीतियों का मूल्यांकन उस काल की सामाजिक, आर्थिक एवं संस्थागत घटनाक्रम के संदर्भ में किया जाए। इसमें कोई संदेह नहीं कि औरंगज़ेब के धार्मिक विचार रूढ़िवादी थे। दार्शनिक बहसों या रहस्यवाद में उसकी रुचि नहीं थी, हालाँकि कभी-कभी वह सूफी

संतों से आशीर्वाद लेने उनके पास जाया करता था, और अपने पुत्रों को भी सूफ़ीमत से संबंध रखने से उसने रोका नहीं। औरंगज़ेब ने मुस्लिम क़ानून की हनीफी व्याख्या को अपनाया जिसका पालन भारत में पारंपरिक रूप से किया जा रहा था। परंतु उसने धर्म-निरपेक्ष फरमान जारी करने में भी कभी कोई संकोच नहीं किया। ऐसे फरमानों को ज़वाबीत कहते थे। ज़वाबित-ए-आलमगीरी नामक एक कृति में उसके फरमानों का संकलन किया गया है। सिद्धांतः ज़वाबित का उद्देश्य शरा की अनुपूर्ति करना था, परंतु व्यवहारतः ज़वाबीत शरा को बहुधा संशोधित कर देते थे, जिसका कारण यह था कि भारत में कुछ ऐसी परिस्थिति मौजूद थीं जिनके बारे में शरा में कोई व्यवस्था नहीं थी।

इस प्रकार रूढ़िवादी मुसलमान होने के साथ ही औरंगज़ेब एक शासक भी था। वह इस राजनीतिक वास्तविकता की ओर से आँखें नहीं चुरा सकता था कि भारत की आबादी में हिंदुओं का विशाल बहुमत था और हिंदुओं की अपने-धर्म में गहरी आस्था थी। हिंदुओं तथा शक्तिशाली हिंदू राजाओं और ज़मींदारों को पूर्ण रूप से विमुख कर देने वाली कोई नीति यहाँ कामयाब नहीं हो सकती थी।

औरंगज़ेब की धार्मिक नीति का विश्लेषण करते हुए हम सबसे पहले नैतिक और धार्मिक नियमों का जायजा ले सकते हैं। अपने शासनकाल के आरंभ में उसने सिक्कों पर कलमा की खुदाई करने का निषेध कर दिया। उसका कहना था कि ऐसा भी हो सकता है कि सिक्कों पर कोई पैर रख दे या एक हाथ से दूसरे हाथ में पहुँचने के क्रम में वह नापाक हो जाए, तो कलमा का अपमान इसलिए

अधर्म होता। उसने नौरोज़ के त्यौहार की मनाही कर दी क्योंकि यह ज़रथुस्त्री (ज़ोरोआस्तरियन) रिवाज़ था जिसका पालन ईरान के सफ़ावी शासक करते थे। सभी सूबों में मुहतसिब नियुक्त किए गए। इन लोगों को इस बात का ध्यान रखने का निर्देश दिया गया कि लोग शरा के अनुसार जीवन व्यतीत करें। इस तरह, इन लोगों का यह काम था कि सार्वजनिक स्थानों में लोग शराब, भाँग आदि न पिएँ। उन पर बदनाम घरों, जुआ खानों आदि का नियमन करने तथा माप-तौल के पैमानों की जाँच करने की जिम्मेदारी थी। संक्षेप में उनका काम यह देखना था कि शरा और ज़वाबित (धर्म-निरपेक्ष फरमानों) द्वारा निषिद्ध कार्य खुल्लमखुल्ला न किए जाएँ। मुहतसिबों की नियुक्ति के पीछे औरंगज़ेब का यह आग्रह काम कर रहा था कि राज्य नागरिकों के नैतिक कल्याण के लिए भी जिम्मेदार है।

बाद में अपने शासनकाल के ग्यारहवें वर्ष में औरंगज़ेब ने ऐसे कई कदम उठाए जिन्हें शुद्धतावादी कहा गया है, परंतु जिनके पीछे वस्तुतः आर्थिक एवं सामाजिक उद्देश्य थे और जो अंधविश्वासों के खिलाफ़ थे। उदाहरणार्थ उसने दरबार में गायन बंद करवा दिया और गायकों को पेंशन दे दी। लेकिन वाद्य संगीत तथा नौबत (शाही बैंड) को जारी रखा गया। हरम में महिलाओं ने गायन जारी रखा और राजकुमार और सरदार लोग भी गायन को प्रश्रय देते रहे। यहाँ एक और भी बात का उल्लेख करना दिलचस्प होगा। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, शास्त्रीय भारतीय संगीत पर फ़ारसी में सबसे अधिक रचनाओं का प्रणयन औरंगज़ेब के शासनकाल में ही हुआ और स्वयं

औरंगज़ेब एक कुशल वीणावादक था। इस प्रकार औरंगज़ेब ने अपने संगीत-संबंधी निषेधों के खिलाफ विरोध प्रकट करनेवालों को जो यह करारा-सा जवाब दिया था कि संगीत की जिस अर्थी को तुम ढो रहे हो उसे इस तरह ज़मींदोज़ कर दो कि फिर "उसकी कोई ध्वनि सुनाई नहीं पड़े" वस्तुतः क्रोध में कही गई बात थी। औरंगज़ेब ने झरोखा दर्शन की प्रथा भी बंद कर दी क्योंकि इसे वह एक अंधविश्वासपूर्ण रिवाज और इस्लाम के विरुद्ध मानता था। इसी प्रकार उसने शहंशाह के जन्मदिन पर उसे सोने या चाँदी या अन्य कीमती वस्तुओं से तौलने का रिवाज़ भी बंद करवा दिया। यह प्रथा स्पष्ट ही अकबर के शासनकाल में आरंभ होकर काफी फैल गई थी और छोटे सरदारों के लिए तो यह सिर का बोझ बन गई थी। लेकिन सामाजिक मत का दबाव ऐसा जबर्दस्त था कि सबको इसका निर्वाह करना ही पड़ता था। लेकिन उसे अपने बेटों को उनके किसी रोग से मुक्त होने पर इस प्रथा के निर्वाह की छूट देनी पड़ी। उसने ज्योतिषियों को जन्म-जंत्रियाँ बनाने से मना कर दिया। लेकिन इस निषेध का उल्लंघन हर कोई करता था, यहाँ तक कि शाही परिवार के लोग भी।

इसी तरह के कई और नियम भी बनाए गए जिनमें से कुछ नैतिक आचार से संबंधित थे और कुछ का उद्देश्य सादगी और मितव्ययिता को बढ़ावा देना था। सिंहासन कक्ष को सस्ते और सादे ढंग से सजाने का हुक्म दिया गया। मुंशियों से चाँदी की दवातों के बदले चीनी मिट्टी की दवातें इस्तेमाल करने को कहा गया। रेशमी कपड़े को अस्वीकृति की दृष्टि से देखा जाता था। दीवान-ए-आम में सोने की रेलिंगों की जगह सोने पर जड़े गए लाजिस लजूली की रेलिंगें लगवाई गईं। मितव्ययिता के लिए इतिहास लेखन का सरकारी विभाग बंद कर दिया गया।

सिर्फ़ राज्य के आसरे जीने वाले मुसलमानों में व्यापार को बढ़ावा देने के लिए औरंगज़ेब ने आरंभ में मुसलमान व्यापारियों को बहुत हद तक शुल्कों से मुक्त कर दिया। लेकिन उसे जल्द ही इस बात का अहसास हो गया कि मुसलमान व्यापारी इस छूट का गलत इस्तेमाल कर रहे हैं - वे राज्य को ठगने के लिए हिंदू व्यापारियों के माल को भी अपना बताकर निकाल देते थे। इसलिए बादशाह ने मुसलमान व्यापारियों पर यह शुल्क फिर से लगा दिया, लेकिन उसकी दर अन्य लोगों से वसूल किए जाने वाले शुल्क से आधी रखी।

इसी प्रकार उसने पेशकारों और करोड़ियों के पद मुसलमानों के लिए आरक्षित करने की कोशिश की, लेकिन सरदारों के विरोध और योग्य मुसलमानों की कमी के कारण शीघ्र ही उसे इस नियम में भी संशोधन करना पड़ा।

अब हम औरंगज़ेब की उन कार्रवाइयों का जायजा ले सकते हैं जिन्हें भेदभाव पूर्ण कहा जा सकता है और जिनसे दूसरे धर्मों के अनुयायियों के प्रति औरंगज़ेब के धर्मांध व्यवहार का परिचय मिलता है। इनमें से सबसे महत्वपूर्ण था मंदिरों के प्रति औरंगज़ेब का रवैया और साथ ही फिर से जजिया का लगाया जाना।

अपने शासनकाल के आरंभ में ही औरंगज़ेब ने मंदिरों, यहूदी उपासना गृहों, गिरजाघरों आदि के संबंध में शरा की इस व्यवस्था का ऐलान कर दिया कि "पुराने मंदिर को नहीं तोड़ना चाहिए, लेकिन कोई नया मंदिर नहीं बनने देना चाहिए"।

इसके अलावा, उपासना के पुराने भवनों की मरम्मत करवाई जा सकती थी, "क्योंकि इमारतें हमेशा टिकी नहीं रह सकतीं"। बनारस, वृंदावन आदि के ब्राह्मणों के नाम जारी किए गए उसके कई फ़रमानों में इस स्थिति को स्पष्ट कर दिया गया। (बनारस वाला फ़रमान कलकत्ता की नेशनल लाइब्रेरी में है और वृंदावन वाला फ़रमान जयपुर के एक मंदिर में।)

मंदिरों के संबंध में औरंगज़ेब का यह आदेश नया नहीं था। इसमें उसी स्थिति को दोहराया गया था जो सल्तनतकाल में विद्यमान थी और जिसका ऐलान अपने शासनकाल के आरंभ में शाहजहाँ ने भी किया था। व्यवहारतः इसमें "पुराने मंदिरों" की व्याख्या के संबंध में स्थानीय अधिकारियों को काफी छूट दी गई थी। इस मामले में शासक की व्यक्तिगत राय और भावना क्या थी, इसका भी अधिकारियों पर असर पड़ना अनिवार्य था। उदाहरण के लिए, शाहजहाँ के प्रिय शहज़ादे के रूप में उदारमना दारा के उदय के बाद से मंदिरों के संबंध में उसके आदेश के बावजूद कोई मंदिर तोड़ा नहीं गया था। दूसरी तरफ, गुजरात के सूबेदार के रूप में, औरंगज़ेब ने वहां पर अनेक मन्दिरों को तोड़ने या उनकी चिनाई के आदेश दिए। इन में से जीर्णोद्धार किया गया सोमनाथ का मंदिर भी था। अपने शासन के आरंभ में औरंगज़ेब ने देखा कि जिन मंदिरों से प्रतिमाएँ हटाकर उन्हें बंद कर दिया गया था उनमें प्रतिमाएँ फिर से प्रतिष्ठित कर दी गई थीं और पूजा अर्चना भी आरंभ हो गई थी। इसलिए 1665 ई. में औरंगज़ेब ने इन मंदिरों को तोड़ने का हुक्म फिर जारी किया था।

तथापि ऐसा नहीं लगता कि औरंगज़ेब के नए मंदिरों पर निषेध लगाने वाले आदेश के फलस्वरूप उसके शासनकाल के आरंभ में बहुत-से मंदिरों को तोड़ा गया। जब औरंगज़ेब को कई हलकों में राजनीतिक विरोध का सामना करना पड़ा-जैसे मराठों, जाटों आदि का - तो लगता है उसने एक नया रुख अपना लिया। जहाँ उसका सामना स्थानीय राजनीतिक शक्ति से होता था वहाँ अब पुराने हिंदू मंदिरों को तोड़ना भी वाजिब मानने लगा। इस तरह वह अपने विरोधियों को सज़ा और चेतावनी देना चाहता था। इसके अलावा वह मंदिरों को हानिकर विचारों के प्रचार के केंद्र मानने लगा था। ये हानिकर विचार और कुछ नहीं, सिर्फ़ ऐसे विचार थे जो कट्टरपंथी मुसलमानों के गले नहीं उतरते थे। उदाहरण के लिए जब 1669 ई. में उसे मालूम हुआ कि थट्टा, मुल्तान और खास तौर से बनारस के कुछ मंदिरों में ब्राह्मणों से ज्ञान प्राप्त करने के लिए हिंदू और मुसलमान दोनों दूर-दूर से आते थे तो उसने कड़ी कार्रवाई की। औरंगज़ेब ने सभी सूबेदारों को पत्र लिखकर उन्हें ऐसी गतिविधियाँ बंद करवाने और जिन मंदिरों में इस तरह की गतिविधियाँ चल रही हों उन्हें तुड़वा देने को कहा। इन आदेशों के फलस्वरूप बनारस के प्रसिद्ध विश्वनाथ मंदिर और जहाँगीर के शासनकाल में बीर सिंह देव बुंदेला द्वारा मथुरा में बनवाए केशवराय मंदिर जैसे कई मंदिर तोड़ दिए गए और उनके स्थान पर मस्जिदें बनवा दी गईं। इन मंदिरों को तोड़ने के पीछे राजनीतिक प्रयोजन भी था। मआसिर-ए-आलमगीरी का लेखक मुस्तैद खाँ मथुरा के केशवराय मंदिर के विध्वंस के बारे

में कहता है – "शहंशाह के धर्म की इस शक्ति और ईश्वर के प्रति उसकी निष्ठा की भव्यता के इस उदाहरण को देखकर गर्वीले राजा हतप्रभ रह गए और सकते की हालत में वे दीवार की ओर रुख किए बुतों की तरह खड़े रह गए"।

इसी संदर्भ में पिछले दस-बारह वर्षों में उड़ीसा में बनवाए गए बहुत-से नए मंदिर भी तुड़वा दिए गए। लेकिन ऐसा मानना गलत होगा कि मंदिरों के आम विध्वंस के लिए कोई हुक्म जारी किया गया।[1] लेकिन जब लड़ाई चल रही होती थी, उस दौरान स्थिति भिन्न होती थी। उदाहरण के लिए जब 1679-80 ई. में मारवाड़ के राठौरों और उदयपुर के राणा के साथ लड़ाई चल रही थी, उस समय जोधपुर और परगनों में एवं उदयपुर में बहुत-से पुराने मंदिर भी तोड़े गए, जैसे कि राजपूत उनके दुश्मन हों।

अपनी मंदिर-संबंधी नीति के मामले में औरंगज़ेब औपचारिक तौर पर शरा की मर्यादाओं के अधीन भले ही रहा हो, लेकिन इसमें संदेह नहीं कि इस विषय में उसने जो स्थिति अपनाई उससे उसके पूर्ववर्ती मुग़ल बादशाहों की सहिष्णुता की उदार नीति को आघात लगा। इससे लोगों में यह धारणा फैली कि किसी भी बहाने से किए गए मंदिर के विध्वंश को बादशाह न केवल माफ़ कर देगा, बल्कि ऐसे कृत्य का वह स्वागत भी करेगा। औरंगज़ेब ने हिंदू मंदिरों और मठों को दान दिए, इसके दृष्टांत हमें अवश्य उपलब्ध हैं, परंतु हिंदू मंदिरों के प्रति औरंगज़ेब की नीति से कुल मिला कर हिंदुओं के एक बहुत बड़े हिस्से में बेचैनी पैदा होना निश्चित था। मगर जान पड़ता है, 1679 ई. के बाद औरंगज़ेब का मंदिरों के विध्वंश का उत्साह कुछ ठंडा पड़ा, क्योंकि दक्षिण में 1681 ई. लेकर 1707 ई. तक की अवधि में उसकी मृत्यु-पर्यंत हमें मंदिरों के किसी सामूहिक विध्वंस का कोई उदाहरण नहीं मिलता। लेकिन इस बीच उसने फिर से जज़िया लगाकर क्षोभ का एक नया सबब ज़रूर पैदा कर दिया।

जज़िया की पृष्ठभूमि और अरब तथा तुर्क शासकों द्वारा भारत में उसे लागू करने की चर्चा हम पहले ही कर चुके हैं। शरा के अनुसार मुस्लिम राज्य में गैर-मुसलमानों के लिए जज़िया अदा करना वाजिब था। अकबर ने जिन कारणों से इस कर को उठा लिया था उनका ज़िक्र हम कर चुके हैं। परंतु रूढ़िवादी मुल्लाओं का एक वर्ग इस कर को फिर से लागू करने के लिए जद्दोजहद कर रहा था ताकि इस्लाम की श्रेष्ठतर स्थिति और वस्तुतः तो स्वयं मुल्लाओं की ऐसी स्थिति का अहसास सबको हो जाए। मालूम होता है, गद्दी पर बैठने के बाद औरंगज़ेब ने कई अवसरों पर इस

1. मुस्तैद खाँ ने औरंगज़ेब का इतिहास अठारहवीं सदी के आरंभ में लिखा। औरंगज़ेब से उसका काफ़ी नज़दीकी रिश्ता था। वह कहता है कि औरंगज़ेब के आदेश का मंतव्य "इस्लाम को प्रतिष्ठित करना" था। उसका यह भी कहना है कि शहंशाह ने अपने सूबेदारों को सभी मंदिर तोड़ देने और गलत धर्म को माननेवाले इन लोगों अर्थात् हिंदुओं के अपने धर्म के सार्वजनिक आचरण पर निषेध लगा देने का आदेश दिया। यदि मुस्तैद खाँ की बात सही होती तो उसका मतलब यह होता कि औरंगज़ेब शरा की स्थिति से बहुत आगे जा रहा था, क्योंकि शरा दूसरे लोगों के धर्मों के आचरण पर तब तक निषेध लगाने को नहीं कहता है जब तक कि ऐसे धर्मों के अनुयायी राज्य के प्रति वफ़ादार हैं और इसी तरह की दूसरी शर्तों का पालन कर रहे हैं। अब तक सूबेदारों के नाम वैसा कोई फ़रमान प्राप्त नहीं हुआ है जैसे फ़रमानों की बात मुस्तैद खाँ करता है।

कर को फिर से आरोपित करने का विचार किया, किंतु इसके राजनीतिक विरोध की संभावना को देखते हुए उसने अपना हाथ रोक लिया। आखिर अपने शासनकाल के बाईसवें वर्ष में अर्थात् 1679 ई. में, उसने इस कर को फिर से लागू कर दिया। इसमें औरंगज़ेब के मंतव्य के विषय में इतिहासकारों के बीच काफ़ी चर्चा हुई है। पहले हम यह देखने की कोशिश करें कि वास्तव में जज़िया क्या नहीं था। यह हिंदुओं को इस्लाम को कबूल करने पर मजबूर करने के लिए उनपर डाला गया कोई आर्थिक दबाव नहीं था, क्योंकि इसका परिमाण अत्यल्प था। इसके अलावा स्त्रियों, बच्चों, अंधे-अपंगों और विपन्न लोगों को, अर्थात् जिसके पास अपने गुज़ारे का भी उपाय नहीं था उन लोगों को, इस कर से बरी रखा गया। सरकारी अमलों पर भी यह कर नहीं लगाया गया। हिंदुओं के किसी खासे बड़े हिस्से ने इस कर के दबाव में आकर अपना धर्म बदल लिया हो, ऐसा भी नहीं हुआ। दूसरे यह कठिन आर्थिक परिस्थिति के निराकरण का भी कोई उपाय नहीं था। यद्यपि जज़िया से होनेवाली आय काफ़ी बड़ी बताई जाती है, तथापि औरंगज़ेब ने अबवाब नामक शुल्क न लगाकर आमदनी के एक काफ़ी बड़े ज़रिए को इसलिए तिलांजलि दे दी कि उसका प्रावधान शरा में नहीं था। फिर से जज़िया लगाने की कार्रवाई का स्वरूप राजनीतिक भी था और विचारधारात्मक भी। इसका उद्देश्य मराठों और राजपूतों से और शायद दकन के मुस्लिम राज्यों से भी, खासकर काफ़िरों के साथ संधि-संबंध में बँधे गोलकुंडा से, राज्य की रक्षा करने के लिए मुसलमानों को संगठित होने को प्रेरित करना था। दूसरे, जज़िया की वसूली ईमानदार और धर्म-भीरु मुसलमान करनेवाले थे, जिन्हें इस काम के लिए खास तौर से तैनात किया गया था और जज़िया से होनेवाली आमदनी उलमाओं के लिए जिनके बीच काफ़ी बेरोजगारी थी, सुरक्षित थी। इस प्रकार यह उलमाओं को दी गई बहुत बड़ी रिश्वत थी। लेकिन इससे संभावित हानियाँ लाभों के मुकाबले बहुत भारी पड़ती थी। हिंदू इसे भेदभाव का द्योतक मानते थे और इसलिए इसके प्रति उनके मन में गहरा क्षोभ जगा। इसकी वसूली के तरीके की भी कुछ खास विशेषताएँ थीं। करदाता को यह कर व्यक्तिगत रूप से उपस्थित होकर अदा करना पड़ता था और कभी-कभी उसे इस सिलसिले में उलमाओं के हाथों अपमान भी सहना पड़ता था। गाँवों में इसकी वसूली भूराजस्व के साथ की जाती थी, जिससे इसका दंश कुछ कम हो जाता था। लेकिन शहरों के अच्छी हैसियत वाले हिंदुओं को इस तरीके से बहुत परेशानी होती थी। इसलिए हमें ऐसे कई प्रसंगों के उल्लेख मिलते हैं जब हिंदू व्यापारियों और दुकानदारों ने इस कर के खिलाफ़ हड़ताल की। इसकी वसूली में भ्रष्टाचार भी बहुत था और कई बार तो अमीनों या इसकी वसूली करने वालों की हत्या कर दी गई। लेकिन औरंगज़ेब के रुख में कोई नरमी नहीं आई और जब प्राकृतिक विपत्तियों के कारण भूराजस्व में माफ़ी देनी पड़ती थी तब भी किसानों को यह कर अवश्य चुकाना पड़ता था। अंत में 1705 ई. में उसे "दक्षिण में चलने वाली लड़ाई के दौर तक के लिए" (जिसकी समाप्ति अनिश्चित थी) उसे यह कर स्थगित करना पड़ा। इससे मराठों के साथ उसकी समझौता-वार्ता पर कोई अनुकूल प्रभाव नहीं पड़ा, लेकिन धीरे-धीरे पूरे देश में इसका चलन खतम हो गया।

आखिर 1712 ई. में इसे विधिवत् समाप्त कर दिया गया।

कुछ आधुनिक लेखकों का मत है कि औरंगज़ेब के इन कदमों का उद्देश्य भारत को 'दार-उल-हरब' (काफ़िरों का देश) से दार-उल-इस्लाम (मुसलमानों की आबादी वाले देश) में बदल देने का था।[1]

यद्यपि औरंगज़ेब लोगों को मुसलमान बनाना वाजिब मानता था, तथापि योजनाबद्ध रीति से या बड़े पैमाने पर लोगों को जबरन मुसलमान बनाने के साक्ष्य का अभाव है।[2] हिंदू सरदारों के खिलाफ कोई भेदभाव नहीं किया गया। हाल की एक कृति में दर्शाया गया है कि औरंगज़ेब के शासनकाल के उत्तरार्ध में हिंदू सरदारों की संख्या धीरे-धीरे बढ़ती गई और एक अवस्था ऐसी भी आई जब कुल सरदारों में हिंदू सरदारों का अनुपात एक-तिहाई हो गया जबकि शाहजहाँ के शासनकाल में वह एक-चौथाई था। एक बार एक अर्जी में धार्मिक आधार पर एक पद पर दावा किया गया था। उस पर औरंगज़ेब ने लिखा – "धर्म के मामलों से सांसारिक मामलों का क्या दखल है? और धर्म के मामलों में धर्मांधता के लिए कहाँ जगह है? आपके लिए आपका धर्म है और मेरे लिए मेरा। यदि आपका सुझाया यह नियम स्थापित हो जाए तो मेरा कर्तव्य सभी (हिंदू) राजाओं और उनके समर्थकों को खत्म कर देना हो जाएगा"।

इस प्रकार औरंगज़ेब ने राज्य के स्वरूप को बदलने की कोशिश नहीं की। औरंगज़ेब के धार्मिक विश्वासों को उसकी राजनीतिक नीतियों का आधार नहीं माना जा सकता। यद्यपि औरंगज़ेब एक रूढ़िवादी मुसलमान था और कानून का अक्षरश: पालन करना चाहता था, तथापि शासक की हैसियत से वह अपने साम्राज्य को शक्तिशाली बनाने और उसका विस्तार करने को बहुत उत्सुक रहता था। इसलिए वह यथासंभव हिंदुओं का समर्थन नहीं खोना चाहता था। परंतु उसकी राजनीतिक या सार्वजनिक नीतियों से बहुधा उसके धार्मिक विचारों और विश्वासों का टकराव हो जाता था। और तब औरंगज़ेब दुविधा में पड़ जाता था कि किसे तरजीह दी जाए।

राजनीतिक घटनाक्रम : उत्तर भारत

उत्तराधिकार की लड़ाई के दौरान बहुत-से स्थानीय ज़मींदारों और राजाओं ने शाही खज़ाने में राजस्व भेजना बंद कर दिया था। उनमें से कुछ लोगों ने तो आसपास के इलाकों में, जिनमें मुगल क्षेत्र भी शामिल थे और राजमार्गों पर लूटपाट भी शुरू कर दी थी। गद्दी पर विधिवत् बैठने के बाद औरंगज़ेब

1. जिस राज्य में इस्लामी कानून चलते थे और यहाँ का शासक मुसलमान होता था, उसे दार-उल-इस्लाम कहा जाता था। ऐसे राज्य में शरिया के अनुसार मुस्लिम शासक की अधीनता मानने वाले और जज़िया देने को रज़ामंद हिंदू ज़िम्मी या संरक्षित प्रजा थे। इसलिए भारत में तुर्कों के आगमन के समय से ही राज्य को दार-उल-इस्लाम माना गया था। जब 1772 ई. में मुगल सेनापति महादजी सिंधिया ने दिल्ली पर कब्ज़ा कर लिया और मुगल बादशाह उसके हाथ की कठपुतली बन गया तब भी उलमाओं ने फ़तवा दिया कि राज्य दार-उल-इस्लाम ही है क्योंकि इस्लामी कानूनों को चलने दिया गया और गद्दी पर एक मुसलमान बैठा हुआ था।
2. कश्मीर में लोगों को बड़े पैमाने पर मुसलमान अवश्य बनाया गया, लेकिन जैसा कि हम देख चुके हैं, यह चौदहवीं और पंद्रहवीं सदियों की बात है।

ने कड़े शासन का दौर आरंभ किया। कुछ क्षेत्रों में जैसे उत्तर-पश्चिम और दकन में, उसने साम्राज्य की सीमाओं का विस्तार किया। लेकिन सामान्यत: औरंगज़ेब ने साम्राज्य विस्तार की नीति नहीं अपनाई। गद्दी पर बैठने के तुरंत बाद उसका पहला काम साम्राज्य की सत्ता और सम्मान को प्रतिष्ठित करना था। इसमें उत्तराधिकार युद्ध के दौरान मुगलों के हाथ से निकल गए उन प्रदेशों पर फिर से अधिकार करना भी शामिल था जिन पर मुगल अपना कानूनी हक मानते थे। आरंभ में औरंगज़ेब ने प्रदेश को जीतने और उन्हें अपने साम्राज्य में मिलाने में अधिक रुचि नहीं दिखाई। इसकी बजाय उसे साम्राज्य को सुदृढ़ बनाने की अधिक चिंता थी। इसी चिंता के कारण उसने एक सेना बीकानेर को भेजकर वहाँ के राजा को फिर से मुगलों की अधीनता स्वीकार करने को मजबूर किया, लेकिन उसने उसे अपने साम्राज्य में मिलाने की कोई कोशिश नहीं की। परंतु बिहार में पलामू के राजा के संबंध में उसने इस नीति से काम नहीं लिया, बल्कि उस पर गैर-वफ़ादारी का आरोप लगाकर उसके राज्य के एक बड़े हिस्से को मुगल साम्राज्य में मिला लिया गया। बुंदेला राजा चंपत राय आरंभ में औरंगज़ेब का मित्र था, लेकिन बाद में वह लूट-पाट मचाने लगा था। उस पर लगातार सैनिक दबाव डाला जाता रहा और अंतत: उसे पकड़ लिया गया। लेकिन उसके राज्य को औरंगज़ेब ने साम्राज्य में नहीं मिलाया।

उत्तर-पश्चिम और पूरबी भारत

एक पिछले अध्याय में हमने असमघाटी में या अहोम शक्ति के उदय और एक ओर तो कामता (कामरूप) के शासकों तथा दूसरी ओर बंगाल के अफ़गान शासकों से उनके संघर्षों की चर्चा हम कर चुके हैं। चौदहवीं सदी के अंत तक कामता (कामरूप) राज्य बिखर गया और उसका स्थान कूच (कूच बिहार) राज्य ने लिया। उत्तर बंगाल और पश्चिमी असम पर इस राज्य का अधिकार था। कूच शासकों ने अहोम लोगों के साथ संघर्ष की नीति जारी रखी। लेकिन आतंरिक कलह के कारण सत्रहवीं सदी के आरंभ में अहोम राज्य विभाजित हो गया। अब मुगलों को मौका मिल गया। इसके अलावा कूच राज्य ने भी उन्हें अहोम पर हमला करने का न्यौता दिया। मुगलों ने विभाजित अहोम राज्य को पराजित कर दिया और 1612 ई. में कूच सेना की सहायता से पश्चिम असम घाटी के बार नदी तक के इलाके पर कब्ज़ा कर लिया। कूच राजा मुगलों का मातहत राजा बन गया। इस प्रकार अब मुगल साम्राज्य की पूरबी सीमा बार नदी के पार पूरबी असम पर शासन करनेवाले अहोमों के राज्य की सीमा से लग रही थी। अहोमों के साथ मुगलों का लंबा संघर्ष चला। इस बीच अहोम राजा ने पराजित राजवंश के एक शाहज़ादे को शरण दी थी। आखिर 1638 ई. में अहोमों के साथ मुगलों की संधि हो गई जिसके अनुसार बार नदी दोनों राज्यों के बीच की सीमा बनी। इस प्रकार गुवाहाटी मुगलों के अधिकार में आ गया।

औरंगज़ेब के शासनकाल में मुगलों और अहोमों के बीच लंबी लड़ाई चली। अहोम शासकों ने मुगलों को गुवाहाटी तथा आसपास के क्षेत्रों से निकाल कर पूरे असम पर अपना नियंत्रण स्थापित करने का प्रयत्न किया तो युद्ध अनिवार्य हो गया। उधर औरंगज़ेब द्वारा नियुक्त बंगाल का नया

सूबेदार मीर जुमला कूच बिहार और पूरे असम को मुग़ल सत्ता के अधीन लाकर अपने पराक्रम का परिचय देने को उत्सुक था। इस बीच कूच बिहार ने मुग़लों की प्रभुता मानने से इनकार कर दिया था, सो सबसे पहले मीर जुमला ने उसी पर आक्रमण करके उसके पूरे राज्य को मुग़ल साम्राज्य में मिला लिया। अब उसने अपना रुख अहोम राज्य की ओर किया और उस पर धावा बोल दिया। उसने अहोम राजधानी गढ़गाँव पर कब्ज़ा करके छह महीने तक उसे अपनी गिरफ़्त में रखा। वहाँ से और आगे बढ़ते हुए वह अहोम राज्य की दूसरी सीमा तक पहुँच गया और अंत में उसने अहोम राजा को एक अपमानजनक संधि करने पर मजबूर कर दिया (1663 ई.)। राजा को अपनी पुत्री को मुग़ल हरम में भेजना पड़ा, लड़ाई के हर्जाने के तौर पर भारी रकम देनी पड़ी और 20 हाथियों का सालाना नज़राना अदा करने पर राजी होना पड़ा। मुग़ल सीमा बार नदी से भारली नदी तक फैल गई।

इस शानदार विजय के शीघ्र बाद मीर जुमला की मृत्यु हो गई। असम में राज्य विस्तार नीति के लाभ संदिग्ध थे, क्योंकि वह क्षेत्र संपन्न नहीं था और चारों ओर से पहाड़ों में निवास करने वाले नागाओं जैसे युद्ध-प्रिय कबीलों से घिरा हुआ था। जल्दी ही मालूम हो गया कि अहोम पराजित हुए थे, लेकिन उनकी शक्ति की रीढ़ नहीं टूट गई थी और संधि की शर्तों को लागू करवाना मुग़लों के बूते से बाहर की बात थी। 1667 ई. में अहोम फिर से स्पर्धा में उतर आए। उन्होंने मुग़लों को दिए गए प्रदेशों पर तो फिर से कब्ज़ा कर ही लिया, उनसे गुवाहाटी शहर भी छीन लिया। इससे पहले ही मुग़लों को कूच बिहार से भी खदेड़ दिया गया था। इस प्रकार मीर जुमला के जीते हुए सभी प्रदेश जल्दी ही मुग़लों के हाथों से निकल गए। इसके बाद अहोमों के साथ डेढ़ दशकों की एक लंबी लड़ाई का विनाशकारी सिलसिला चला। दीर्घकाल तक मुग़ल सेना की कमान आमेर के राजा राम सिंह के हाथों में थी। लेकिन जो कठिन कार्य उसके सामने था उसके उपयुक्त संसाधन उसके पास नहीं थे। अंत में मुग़लों को गुवाहाटी पर भी अपना दावा छोड़ कर उससे पश्चिम की ओर अंकित सीमा से संतुष्ट होना पड़ा।

असम की घटनाओं से दूर-दराज़ के इलाकों में मुग़लों की शक्ति की सीमा का पता चल गया। इससे यह भी मालूम हो गया कि अहोम लोग कितने कुशल और संकल्पयुक्त थे। वे जमकर लड़ने से बचते रहे और छापामार युद्ध का सहारा लेते रहे। मुग़लों के विरोधी अन्य क्षेत्रों में भी यही रणनीति इतनी ही सफलता से अपनाने वाले थे। परंतु मुग़ल आक्रमण के कारण और उसके बाद चलनेवाली लड़ाई की वजह से अहोम राजत्व की शक्ति क्षीण हो गई थी। फलतः अहोम साम्राज्य का पतन आरंभ हो गया और अंत में वह विघटित हो गया। परंतु पूरबी भारत में अन्यत्र मुग़लों को अधिक सफलता मिली। शिवाजी से मात खाने के बाद शाइस्ता खाँ मीर जुमला का उत्तराधिकारी नियुक्त किया गया था। वह एक सुयोग्य प्रशासक और सेनापति साबित हुआ। उसने मीर जुमला की प्रादेशिक विस्तार की नीति में संशोधन किया। सबसे पहले उसने कूच बिहार के साथ एक समझौता किया। उसके बाद उसने दक्षिण बंगाल की समस्या की ओर ध्यान दिया। उस क्षेत्र में माघ (अराकानी)

जल-दस्युओं ने चटगाँव के अपने अड्डे से ढाका तक के इलाकों को आतंकित कर रखा था। ढाका तक का प्रदेश वीरान हो गया था। और व्यापार तथा उद्योग को भारी क्षति पहुँची थी। अराकानी दस्युओं से निबटने के लिए शाइस्ता खाँ ने एक नौसेना खड़ी की और चटगाँव के खिलाफ़ कार्रवाई करने के लिए अड्डा बनाने के उद्देश्य से सोनदीप नामक टापू पर कब्ज़ा कर लिया। इसके बाद उसने पैसे और मेहरबानियों के बल पर फिरंगियों को अपने पक्ष में कर लिया। चटगाँव के पास अराकानी नौसेना को बुरी तरह परास्त कर दिया गया और उसके बाद चटगाँव पर आक्रमण करके 1666 ई. में उसे जीत लिया गया। अराकानी नौसेना के विनाश के फलस्वरूप समुद्री मार्ग व्यापार के लिए खुल गया। इस काल में बंगाल में विदेश व्यापार की त्वरित प्रगति में तथा पूर्व बंगाल में कृषि के विस्तार में इस घटना का प्रमुख योगदान था।

उड़ीसा में पठानों के विद्रोह को ठंडा कर दिया गया और बालासोर के द्वार व्यापार के लिए खोल दिए गए।

क्षेत्रीय स्वतंत्रता के लिए जन-विद्रोह और आंदोलन : जाट, अफ़गान और सिख

साम्राज्य के अंदर औरंगज़ेब को कई कठिन राजनीतिक समस्याओं का सामना करना पड़ा - जैसे दकन में मराठों का, उत्तर भारत में जाटों और राजपूतों का तथा उत्तर-पश्चिम में सिखों और अफ़गानों का। इनमें से कुछ समस्याएँ नई नहीं थीं और उनका सामना उसके पूर्ववर्ती शहंशाहों को भी करना पड़ा था। लेकिन औरंगज़ेब के शासनकाल में उनका स्वरूप बदल गया। इन आंदोलनों के रूप भी अलग-अलग थे। राजपूतों के मामले में यह बुनियादी तौर पर उत्तराधिकार की समस्या थी। मराठों के संदर्भ में यह स्थानीय स्वतंत्रता का मसला था। जाटों के साथ टकराव की पृष्ठभूमि में किसानों की समस्याएँ तथा भू-अधिकारों के प्रश्न थे। जिस एकमात्र आंदोलन में धर्म की महत्वपूर्ण भूमिका थी वह था - सिख आंदोलन। जाट और सिख दोनों आंदोलनों की परिणति स्वतंत्र क्षेत्रीय राज्यों की स्थापना के प्रयत्न में हुई। अफ़गानों के संघर्ष का स्वरूप कबाइली था। लेकिन उनके मामले में भी एक पृथक अफ़गान राज्य की स्थापना की भावना काम कर रही थी। इस प्रकार इन आंदोलनों का स्वरूप निर्धारित करने में आर्थिक एवं सामाजिक आकांक्षाओं का तो हाथ था ही, साथ ही क्षेत्रीय स्वतंत्रता की भावना भी, जो हमेशा प्रबल बनी रही, एक प्रमुख शक्ति के रूप में काम कर रही थी।

कुछ विद्वानों का कहना है कि अफ़गानों के संघर्ष को छोड़कर बाकी सभी आंदोलन औरंगज़ेब की संकीर्ण धार्मिक नीतियों के खिलाफ़ हिंदू प्रतिक्रिया की उपज थे। जिस देश में प्रजा प्रमुख रूप से हिंदू हो उसमें मुसलमानों की प्रधानतावाली केंद्रीय सरकार के खिलाफ़ चलने वाले किसी भी आंदोलन को इस्लाम को दी गई चुनौती के तौर पर देखा जा सकता है। इसी प्रकार इन "विद्रोही" आंदोलनों के नेता अपना प्रभाव बढ़ाने के लिए धार्मिक नारों और प्रतीकों का इस्तेमाल बखूबी कर सकते थे। इसलिए इन आंदोलनों के वास्तविक स्वरूप का विश्लेषण करने में हमें सावधानी से काम लेना चाहिए।

जाट और सतनामी

मुगल सरकार से आबादी के जिस हिस्से का टकराव सबसे पहले हुआ, वह थी यमुना नदी के दोनों ओर दिल्ली और आगरा के क्षेत्रों में बसी जाटों की आबादी। जाट मुख्य रूप से किसान जोतदार थे और उनमें से कुछ ही लोग जमींदार थे। जाटों के भ्रातृत्व और न्याय की भावना बहुत प्रबल थी। सरकार से जाटों की टक्कर बहुधा होती रहती थी और अपने इलाके की दुर्गमता का लाभ उठाकर वे जब-तब विद्रोह कर बैठते थे। उदाहरण के लिए भूराजस्व की उगाही के प्रश्न पर जहाँगीर और शाहजहाँ के शासनकालों में मुगलों से उनकी टक्करें हुई थीं। चूँकि दकन और पश्चिमी समुद्री बंदरगाहों को जानेवाली शाही सड़कें जाट क्षेत्र से गुजरती थीं, इसलिए मुगल सरकार ने इन विद्रोहों को बहुत गंभीर माना था और इन्हें दबाने के लिए कड़े कदम उठाए गए थे।

1669 ई. में गोकला नामक एक स्थानीय जमींदार के नेतृत्व में मथुरा इलाके के जाटों ने विद्रोह कर दिया। विद्रोह शीघ्र ही उस क्षेत्र के किसानों के बीच फैल गया और औरंगजेब ने उसे दबाने के लिए खुद ही दिल्ली से कूच करने का फैसला किया। यद्यपि जाट सैनिकों की संख्या 20,000 पर पहुँच गई थी तथापि संगठित शाही सेना से उनका कोई मुकाबला नहीं था। फिर से घमासान लड़ाई हुई जिसमें जाट पराजित हुए। गोकला को बंदी बना कर मार डाला गया।

लेकिन आंदोलन पूरी तरह से दब नहीं पाया और अंदर ही अंदर असंतोष सुलगता रहा। इस बीच 1672 ई. में मथुरा के निकट ही नारनौल नामक स्थान में किसानों और मुगलों के बीच एक और भिड़ंत हो चुकी थी। इस बार संघर्ष सतनामी नामक एक धार्मिक संगठन के साथ हुआ था। सतनामी मुख्य रूप से किसान, कारीगर और निचली जातियों के लोग थे। समकालीन लेखकों ने उन्हें "सोनार, बढ़ई, मेहतर, चमार और अन्य अधम लोग" कहा है। ये लोग जाति या दर्जे का कोई भेद नहीं करते थे और न हिंदुओं और मुसलमानों में कोई फर्क करते थे। वे आचार के कड़े नियमों का पालन करते थे। शुरुआत एक स्थानीय मसले के साथ झगड़े से हुई, लेकिन शीघ्र ही उसका रूप एक खुले विद्रोह का हो गया। बादशाह को फिर खुद ही जाकर इस विद्रोह को दबाना पड़ा। दिलचस्प बात यह है कि स्थानीय हिंदू ज़मींदारों ने, जिनमें से कई राजपूत थे, मुगलों का साथ दिया था।

1685 ई. में राजाराम के नेतृत्व में जाटों का दूसरा विद्रोह हुआ। इस बार जाट अधिक संगठित थे और उन्होंने छापामार लड़ाई का तरीका अपनाया और साथ ही लूट-पाट का भी सहारा लिया। औरंगजेब ने कच्छवाहा राजा बिशन सिंह से इस विद्रोह को दबाने का अनुरोध किया। बिशन सिंह को मथुरा का फौजदार नियुक्त किया गया और उसे पूरा क्षेत्र जमींदारी में दे दिया गया। ज़मींदारी हकों को लेकर जाटों और राजपूतों के बीच का संघर्ष और भी उलझ गया। ज्यादातर प्राथमिक जमींदार अर्थात् ज़मीन के मालिक किसान जोतदार जाट थे, जबकि मध्यवर्ती जमींदार, अर्थात् भू-राजस्व की उगाही करने वाले लोग राजपूत थे। जाटों ने डटकर मुकाबला किया लेकिन 1691 ई. में राजाराम और उसके उत्तराधिकारी चूड़ामन को आत्म-समर्पण करने पर मजबूर कर दिया गया। मगर जाट

किसानों में अशांति व्याप्त रही और उनकी लूट-पाट की कार्रवाइयों के कारण दिल्ली-आगरा सड़क यात्रियों के लिए असुरक्षित हो गई। आगे चलकर अठारहवीं सदी में मुगलों के गृह-कलह और केंद्र सरकार की कमज़ोरी का लाभ उठाकर चूड़ामन ने उस क्षेत्र में एक पृथक जाट राज्य स्थापित कर लिया और राजपूत ज़मींदारों को वहाँ से उखाड़ दिया। इस प्रकार जो अशांति कृषक विद्रोह के रूप में आरंभ हुई थी उसने एक दूसरा रूप ग्रहण कर लिया और उसकी परिणति एक ऐसे राज्य में हुई जिसमें जाट सरदार शासक वर्ग बन गए।

अफ़गान

औरंगज़ेब को अफ़गानों के विरोध का भी सामना करना पड़ा। पंजाब और काबुल के बीच पहाड़ी प्रदेशों में रहने वाले दुर्दमनीय अफ़गान कबीलों से संघर्ष कोई नई बात नहीं थी। अकबर को भी अफ़गानों से लोहा लेना पड़ा था और उन्हीं से जूझते हुए उसके अंतरंग मित्र और हमराज़ राजा बीरबल को अपने प्राण गँवाने पड़े थे। शाहजहाँ के शासनकाल में भी अफगान कबायिलियों से संघर्ष हुआ था। ये संघर्ष कुछ तो आर्थिक थे और कुछ राजनीतिक तथा धार्मिक। बियाबान पहाड़ों में जीविका के अत्यल्प साधनों पर गुज़ारा करने वाले अफगानों को मजबूरन कारवाँओं को लूटना पड़ता था या मुगलों की सेना में भरती होना पड़ता था। लेकिन उनकी अदम्य स्वातंत्र्य-प्रियता मुगल सेना में नौकरी करना उनके लिए दुश्वार कर देती थी। मुगल उन्हें सहायता-राशियाँ देकर उन्हें सामान्यतः संतुष्ट रखते थे। लेकिन आबादी की बढ़ोतरी या उनके बीच किसी महत्वाकांक्षी नेता का उदय इस मूक समझौते में खलल डाल सकता था।

औरंगज़ेब के शासनकाल में पठानों में एक नई किस्म की हलचल आरंभ हुई। 1667 ई. में युसुफ़ जई कबीले के नेता भागू ने अपने को एक प्राचीन शाही खानदान का वंशज बताने वाले मुहम्मद शाह नामक एक व्यक्ति को राजा घोषित कर दिया और खुद उसका वज़ीर बन बैठा। स्पष्ट है कि जाटों की तरह पठानों में भी अपना अलग राज्य कायम करने की आकांक्षा उदित हो गई थी। इसी बीच रौशनाई नामक एक धार्मिक पुनरुत्थानवादी आंदोलन आरंभ हो गया था। जिसमें कठोर नैतिक जीवन और चुनिंदे पीर में अनुरक्ति पर ज़ोर दिया गया। इस आंदोलन ने पठानों की नई आकांक्षा के लिए बौद्धिक तथा नैतिक पृष्ठभूमि का काम किया।

धीरे-धीरे भागू का आंदोलन फैलता गया और एक दौर ऐसा आया जब उसके अनुगामी हज़ारा, अटक और पेशावर ज़िलों में लूट-मार मचाने लगे और खैबर के रास्ते होने वाले यातायात को ठप करने लगे। खैबर दर्रे को निष्कंटक बनाने और विद्रोह को दबाने के लिए औरंगज़ेब ने आला बख्शी अमीर खाँ को तैनात किया। उसके साथ एक राजपूत टुकड़ी सन्नद्ध कर दी गई। कई घमासान लड़ाइयों के बाद अफगानों के प्रतिरोध को ठंडा कर दिया गया। लेकिन उन पर नज़र रखने के लिए 1671 ई. में मारवाड़ के महाराजा जसवंत सिंह को जमरूद का थानेदार नियुक्त कर दिया गया।

1672 ई. में दूसरा अफ़गान विद्रोह हुआ। इस बार विद्रोहियों का सरगना अफरीदी नेता अकमल खाँ था जिसने स्वयं को बादशाह घोषित कर दिया और अपने नाम से खुतबा पढ़वाया तथा सिक्के ढलवाए। उसने मुगलों के खिलाफ़ युद्ध की घोषणा

कर दी और सभी अफ़गानों को अपने झंडे के नीचे एकत्र होने को आमंत्रित किया। एक समकालीन लेखक के अनुसार "चींटियों और टिड्डियों के दल से भी बड़ी तादाद वाले लोग" अपने समर्थकों के बल पर उसने खैबर दर्रे को बंद कर दिया। दर्रे को साफ़ करने के प्रयत्न में अमीर खाँ बहुत आगे बढ़ आया और एक तंग घाटी में हुई मुठभेड़ में उसकी करारी हार हुई। अमीर खाँ किसी तरह जान बचाकर भाग निकलने में कामयाब हो गया लेकिन उसके 10,000 लोग काल-कवलित हो गए और अफ़गानों ने दो करोड़ रुपए मूल्य की नकदी और माल लूट लिया। इस विजय के फलस्वरूप दूसरे कबायिली भी मैदान में उतर आए। इन्हीं में से एक था खुशहाल खाँ खटक, जो औरंगज़ेब का कट्टर दुश्मन था, क्योंकि औरंगज़ेब ने उसे कुछ समय तक बंदी बना कर रखा था।

1674 ई. में शुजात खाँ नामक एक अन्य मुग़ल सरदार को खैबर में ज़बर्दस्त हार का मुँह देखना पड़ा। लेकिन जसवंत सिंह द्वारा भेजी गई राठौड़ वीरों की एक टुकड़ी ने उसे बचा लिया। अब औरंगज़ेब खुद पेशावर पहुँचा और 1675 ई. तक उसी के आसपास जमा रहा। शक्ति और कूटनीति के सहारे अफ़गान संयुक्त मोर्चे को तोड़ दिया गया और धीरे-धीरे फिर से शांति स्थापित हो गई।

अफ़गान विद्रोहों से यह स्पष्ट हो जाता है कि मुग़ल शासन के प्रति विरोध की भावना और क्षेत्रीय स्वतंत्रता की आकांक्षा जाट, मराठा आदि हिंदू जातियों तक ही सीमित नहीं थी। एक और बात यह है कि अफ़गान विद्रोहों के कारण मुग़लों को शिवाजी पर से ऐसे समय में दबाव हटाना पड़ा जब उसकी सख्त ज़रूरत थी। इन विद्रोहों के कारण मुग़लों के लिए दकन में 1676 ई. तक आक्रामक नीति अपनाने की गुंजाइश नहीं रह गई थी और तब तक शिवाजी स्वयं को राजा घोषित करके बीजापुर और गोलकुंडा के साथ संधि-संबंध कायम कर चुका था।

सिख

हालांकि शाहजहां के शासनकाल में मुग़लों और सिखों के बीच कुछ झड़पें हुई थीं, परंतु सिखों और औरंगज़ेब के बीच 1675 ई. तक कोई टकराव नहीं हुआ। सिखों की बढ़ती हुई शक्ति से बाख़बर औरंगज़ेब ने वास्तव में गुरु को साथ मिलाने की कोशिश की थी। गुरु हर राय का एक पुत्र मुग़ल दरबार में रहता था। 1664 ई. में गुरु का पद संभालने के बाद गुरु तेग़ बहादुर ने बिहार में सिख केंद्रों का समर्थन करने के लिए वहाँ की यात्रा की। तत्पश्चात गुरु ने असम अभियान के दौरान आम्बेर के राजा रामसिंह का साथ दिया। परंतु 1675 ई. में गुरु तेग बहादुर को अपने पाँच अनुयायियों के साथ पंजाब में गिरफ्तार करके दिल्ली लाया गया और मौत के घाट उतार दिया गया। जब गुरु को फांसी दी गई तब औरंगज़ेब दिल्ली से बाहर विद्रोही अफ़गानों को दबाने में लगा था। लेकिन ऐसा नहीं हो सकता कि गुरु को फांसी उसकी जानकारी और सहमति के बिना दी गई हो।

यह भी कहा जाता है कि औरंगज़ेब गुरु से इसलिए नाराज़ था कि उसने कुछ मुसलमानों को सिख बना लिया था। एक परंपरा यह भी है कि गुरु ने कश्मीर के स्थानीय गवर्नर[1] के ख़िलाफ़ जो वहाँ के हिंदुओं पर धार्मिक अत्याचार कर रहा था, आवाज़ उठाई थी। किंतु हिंदुओं के साथ धार्मिक अत्याचार

का उल्लेख कश्मीर के किसी इतिहास में नहीं मिलता है। 1710 ई. में लिखे गए नारायण कौल के इतिहास में भी इसका वर्णन नहीं है। कश्मीर का सूबेदार सैफ खाँ पुलों के निर्माता के रूप में प्रसिद्ध है। वह बहुत ही दयावान और उदारचित्त व्यक्ति था जिसने प्रशासनिक मामलों में सलाह-मशविरे के लिए एक हिंदू को नियुक्त किया था। 1671 ई. के बाद उसका उत्तराधिकारी इफ्तेखार खाँ शियाविरोधी था लेकिन उसके द्वारा हिंदुओं पर अत्याचार का ज़िक्र नहीं मिलता है। साक्ष्यों से प्राप्त जानकारी के अनुसार कश्मीरी ब्राह्मणों का एक शिष्टमंडल गुरु से मिला और गुरु ने उन्हें अपना समर्थन देने का वादा किया। कुछ प्राचीन मंदिरों की तोड़-फोड़ की औरंगज़ेब की कार्रवाई के प्रति गुरु का असंतुष्ट तथा द्रोही होना भी एक कारण था, जिसके लिए गुरु को अपने प्राणों की बलि देनी पड़ी।

बाद के कुछ फ़ारसी इतिहासकारों ने औरंगजेब के द्वारा की गई कार्रवाई को न्यायसंगत ठहराने का प्रयत्न किया है। यद्यपि, अन्य फ़ारसी इतिहासकारों के अनुसार, जब कभी भी क्षेत्र के किसानों पर स्थानीय अधिकारियों, जमींदारों आदि द्वारा अत्याचार किए गए उन्होंने गुरु की शरण ली। गुरु ने अनपेक्षित उनके भोजन की व्यवस्था की। स्थानीय *दकिया नवीस* अथवा समाचार-लेखक तथा कुछ अन्य ने चेतावनी दी कि यदि गुरु ने इसके विरुद्ध कार्रवाई नहीं की तो राजद्रोह की परिस्थिति उत्पन्न हो जाएगी। ऐसा प्रतीत होने लगा था कि सिखपंथ जाटों में तथा निम्न जातियों के कारीगरों में जो सादगी और समतावादी दृष्टिकोण तथा गुरु की प्रतिष्ठा से आकर्षित हुए थे, फैल चुका था। इस प्रकार धार्मिक नेता होते हुए भी गुरु ने उन सभी का साथ दिया जो अन्याय तथा अत्याचार के विरुद्ध संघर्ष कर रहे थे।

औरंगजेब का कृत्य हर दृष्टि से अनुचित और संकुचित दृष्टिकोण का परिचायक था। गुरु तेग बहादुर की हत्या ने सिखों को पंजाब की पहाड़ियों में पनाह लेने के लिए मजबूर कर दिया। इसका एक परिणाम यह हुआ कि कि सिख आंदोलन धीरे-धीरे "सैनिक भ्रातृत्व" का रूप ग्रहण करता चला गया। इसमें महत्वपूर्ण योगदान गुरु गोविंद सिंह ने दिया। उन्होंने अपनी संगठन-क्षमता का भरपूर परिचय दिया और 1699 ई. में खालसा के सैनिक भ्रातृत्व की स्थापना की। इसके पूर्व गुरु गोविंद सिंह ने पंजाब की पहाड़ी की तलहटी में मखोवाल या आनंदपुर को अपना मुख्यालय बना लिया था। आरंभ में पहाड़ी हिंदू राजाओं ने गुरु और उसके अनुयायियों का सहयोग अपने झगड़ों को निबटाने के लिए लिया। लेकिन शीघ्र ही गुरु स्वयं बहुत शक्तिशाली बन गया और पहाड़ी राजाओं के साथ उसकी कई मुठभेड़ें हुईं जिनमें आम तौर पर गुरु को विजय मिली। खालसा के संगठन से इस संघर्ष में गुरु के हाथ और भी मज़बूत हुए। लेकिन गुरु और पहाड़ी राजाओं में खुला संघर्ष 1704 ई. में हुआ जब इन राजाओं की संयुक्त सेना ने आनंदपुर में गुरु पर आक्रमण कर दिया। राजाओं को फिर पीछे हटना पड़ा और तब

1 सिख परंपरा में उसका नाम शेर अफ़गान बताया गया है। लेकिन औरंगज़ेब के नीतिगत निर्णय के अधीन किसी भी अफ़गान को किसी सूबे का सूबेदार नियुक्त नहीं किया जा सकता था। इसके अलावा 1671 ई. से कश्मीर का सूबेदार इफ्तेखार खाँ था। सिख परंपरा का लेखन बाद में संपन्न हुआ, इसलिए हो सकता है उसमें नामों की गड़बड़ी हो गई हो।

उन्होंने मुग़ल सरकार से उनकी ओर से गुरु के ख़िलाफ़ कार्रवाई करने का अनुरोध किया।

इस प्रकार जो संघर्ष आरंभ हुआ वह कोई धार्मिक संघर्ष नहीं था। वह अंशतः पहाड़ी हिंदू राजाओं और गुरु के बीच की लड़ाई का परिणाम था और अंशतः सिख आंदोलन ने जो रूप लिया था उसका नतीजा था। औरंगज़ेब गुरु की बढ़ती ताकत से चिंतित हो उठा था और इससे पहले ही मुग़ल फ़ौजदार से "गुरु को फटकारने को" कहा जा चुका था। अब उसने लाहौर के सूबेदार और सरहिंद के फ़ौजदार वज़ीर ख़ाँ को पत्र लिखकर गुरु के ख़िलाफ़ पहाड़ी राजाओं की मदद करने को कहा। मुग़ल फ़ौज ने आनंदपुर पर आक्रमण कर दिया लेकिन सिख बहुत बहादुरी से लड़े और उन्होंने उनके सारे हमले नाकाम कर दिए। अब मुग़लों और उनके मित्र राजाओं ने आनंदपुर पर निकट से घेरा डाल दिया। जब क़िले के अंदर भुखमरी की नौबत आ गई तो गुरु को क़िले का द्वार खोलने पर मजबूर होना पड़ा, लेकिन स्पष्ट ही इससे पहले वज़ीर ख़ाँ ने उसे वचन दिया था कि उसे सेना के साथ सुरक्षित बाहर जाने दिया जाएगा। परंतु जब गुरु की सेना एक उफनती नदी को पार कर रही थी, वज़ीर ख़ाँ की फ़ौज ने अचानक उस पर हमला कर दिया। गुरु के दो बेटों को बंदी बना लिया गया और जब उन्होंने इस्लाम कबूल करने से इनकार कर दिया तो सरहिंद में उनके सिर धड़ से अलग कर दिए गए। एक और लड़ाई में गुरु के बाकी दो बेटे भी खेत रहे। इसके बाद गुरु गोविंद सिंह एक निवृत्त जीवन व्यतीत करने के लिए तलवंडी चले गए जहाँ किसी ने उसकी शांति भंग नहीं की।

यह बात संदिग्ध है कि गुरु के दो बेटों के साथ वह नृशंस व्यवहार वज़ीर ख़ाँ नें औरंगज़ेब के कहने पर किया। मालूम होता है, औरंगज़ेब गुरु का विनाश नहीं चाहता था और उसने लाहौर के सूबेदार को उसे "समझा-बुझाकर रास्ते पर लाने" के लिए एक पत्र लिखा था। इन दिनों औरंगज़ेब दकन में था। जब गुरु ने उसे पत्र लिखकर सारे वृत्तांत की जानकारी दी तो उसने गुरु को आकर मिलने का निमंत्रण दिया। 1706 ई. के अंत में गुरु ने दकन की यात्रा आरंभ की, लेकिन अभी वह रास्ते में ही था कि औरंगज़ेब की मृत्यु हो गई। कुछ विद्वानों का विचार है कि गुरु को आशा थी कि वह औरंगज़ेब को आनंदपुर सिखों को लौटा देने के लिए राज़ी कर लेगा।

यद्यपि गुरु गोविंद सिंह मुग़ल शक्ति का सामना नहीं कर सके तथापि उन्होंने अत्याचार के विरुद्ध संघर्ष और सेवा-शुश्रूषा के सिद्धांतों की परंपरा स्थापित की। इससे यह भी स्पष्ट हो गया कि किस प्रकार कोई समतावादी धार्मिक आंदोलन, कुछ खास परिस्थितियों में, एक राजनीतिक और सैनिक आंदोलन का रूप ग्रहण कर ले सकता था और क्षेत्रीय स्वतंत्रता के मार्ग पर कदम बढ़ा सकता था।

राजपूतों से संबंध : मारवाड़ और मेवाड़ से अनबन

हम देख चुके हैं कि जहाँगीर ने 1613 ई. में किस प्रकार मेवाड़ के साथ चल रहे लंबे संघर्ष का

1 जोधाबाई को जहाँगीर की माँ कहने की परंपरा फिर भी जारी है। लेकिन जिस एक मात्र राठौर राजकुमारी के विवाह की जानकारी हमें प्राप्त है, वह है 1585 ई. में सलीम (जहाँगीर) के साथ मोटा राजा उदय सिंह की पुत्री का विवाह। जहाँगीर की माँ कछवाहा राजकुमारी थी।

निबटारा कर दिया था। जहाँगीर ने प्रमुख राजपूत राजाओं पर कृपा-दृष्टि रखने और उनके साथ वैवाहिक संबंध स्थापित करने की अकबर की नीति को जारी रखा। शाहजहाँ ने भी राजपूतों के साथ मैत्री-संबंध कायम रखा। उसके शासनकाल में दकन तथा मध्य एशिया में बल्ख और कंदहार जैसे दूर-दराज़ के प्रदेशों में राजपूत सेना ने मुग़ल साम्राज्य की उत्कृष्ट सेवा की परंतु शाहजहाँ ने किसी भी राजपूत राजा को किसी सूबे का सूबेदार नहीं बनाया और न आगे प्रमुख राजपूत परिवारों से कोई वैवाहिक रिश्ता कायम किया, हालाँकि स्वयं शाहजहाँ एक राजपूत राजकुमारी का पुत्र था।[1] राजपूतों के साथ स्थायी तौर पर मैत्री-संबंध स्थापित हो जाने के कारण शायद यह सोचा गया हो कि अब और वैवाहिक संबंध आवश्यक नहीं हैं। लेकिन शाहजहाँ ने जोधपुर और आमेर इन दो प्रमुख राजपूत घरानों को काफ़ी सम्मान दिया। मारवाड़ का राजा जसवंत सिंह शाहजहाँ का सम्मान-भाजन था। औरंगज़ेब की गद्दीनशीनी के समय उसे और जयसिंह - दोनों को 7000/7000 का दर्जा प्राप्त था।

औरंगज़ेब राजपूतों के साथ मित्रता को बहुत महत्व देता था। उसने मेवाड़ के महाराणा का सक्रिय समर्थन प्राप्त करने का प्रयत्न किया और उसके मनसब को 5000/5000 से बढ़ाकर 6000/6000 दर्जे का कर दिया। यद्यपि जसवंत सिंह धरमत में उसके ख़िलाफ़ लड़ा था और शुजा के ख़िलाफ़ उसकी लड़ाई के दौरान उसने उसका साथ छोड़ दिया था तथा दारा को भी अपने राज्य में निमंत्रित किया था, तथापि औरंगज़ेब ने उसे माफ़ कर दिया और उसे अपने पुराने मनसब पर प्रतिष्ठित कर दिया और उसे महत्वपूर्ण कमानें सौंपीं। जयसिंह 1707 ई. में औरंगज़ेब की मृत्यु तक उसका मित्र और विश्वस्त परामर्शदाता बना रहा।

जसवंत सिंह, जिसे उत्तर-पश्चिम में अफ़गानों की समस्या से निबटने का दायित्व सौंपा गया था, 1678 ई. में चल बसा। महाराजा का कोई पुरुष उत्तराधिकारी नहीं था। इसलिए तुरंत यह समस्या उठी कि गद्दी पर किसे बैठाया जाए। मुग़लों के बीच दीर्घकाल से यह परंपरा चली आ रही थी कि किसी अधीनस्थ राज्य में उत्तराधिकार का झगड़ा शुरू होने पर उसे मुग़ल प्रशासन के अधीन (ख़ालिसा के तौर पर) ले लिया जाता था ताकि उसमें शांति-सुव्यवस्था कायम रखी जा सके और बाद में वहाँ के तयशुदा उत्तराधिकारी को सौंप दिया जाए। उदाहरणार्थ जब 1650 ई. में जैसलमेर के उत्तराधिकार को लेकर विवाद उठा तो शाहजहाँ ने पहले राज्य को ख़ालिसा में शामिल कर लिया और उसके बाद एक सेना के साथ जसवंत सिंह को अपने चुने व्यक्ति को गद्दी पर बैठाने के लिए भेजा। मारवाड़ को ख़ालिसा में शामिल करने का एक और भी कारण था। बहुत से अन्य मुग़ल सरदारों की तरह जसवंत सिंह के पास मुग़ल बादशाहत की बहुत बड़ी रकम बकाया थी जिसकी अदायगी वह नहीं कर पाया था। जसवंतसिंह से बहुत-से राजपूत राजा नाराज़ थे इसका कारण यह था कि बादशाह ने उनके इलाके जसवंत सिंह को जागीर में दे दिए थे। ये राजा गद्दी पर किसी शासक की अनुपस्थिति का फायदा उठाकर जोधपुर में अशांति पैदा करना चाहते थे।

राठौरों से प्रतिरोध की आशंका होने के कारण औरंगज़ेब ने मारवाड़ के दो परगने जसवंत सिंह के परिवार और समर्थकों के खाने-खर्चे के लिए अलग कर दिए थे। अपने आदेश का पालन करवाने के लिए वह एक बड़ी सेना लेकर स्वयं अजमेर पहुँच गया। जसवंत सिंह की पटरानी रानी हाड़ी जोधपुर का नियंत्रण मुग़लों को सौंपने का विरोध कर रही थी, क्योंकि वह राठौरों का वतन था। लेकिन जब औरंगज़ेब सेना लेकर अजमेर पहुँच गया तो उसके सामने उसकी बात मानने के अलावा कोई चारा नहीं रह गया। अब अगर जसवंत सिंह ने कहीं कोई खज़ाना छिपा रखा हो तो उसे हासिल करने के लिए बारीकी से तलाशी ली गई। पूरे मारवाड़ में मुग़ल अधिकारी तैनात कर दिए गए और आदेश जारी किया गया कि सभी मंदिरों को तोड़ दिया जाए या कम-से-कम बंद कर दिया जाए।

इस प्रकार मुग़लों ने आक्रमणकारियों जैसा व्यवहार किया और मारवाड़ के साथ शत्रु-प्रदेश की तरह बर्ताव किया। इसका औचित्य ढूँढ पाना कठिन है। लेकिन कुछ आधुनिक लेखकों का यह कथन सही नहीं मालूम होता कि चूँकि मारवाड़ दिल्ली को गुजरात की बंदरगाहों से जोड़ने का काम करता था इसी कारण मुग़ल उस पर अपना अधिकार बनाए रखना चाहते थे। जसवंत सिंह की मृत्यु के बाद उसकी दो रानियों ने लाहौर में दो पुत्रों को जन्म दिया था। गद्दी पर उनके दावे का ज़ोरों से प्रचार किया गया। लेकिन दिल्ली लौटने से पहले औरंगज़ेब ने छत्तीस लाख रुपए के उत्तराधिकार शुल्क के एवज़ में जसवंत सिंह के बड़े भाई अमर सिंह के पौत्र इंदर सिंह को राजतिलक करने का फैसला किया। औरंगज़ेब को समझाया गया था कि बड़े भाई अमर सिंह के दावे को नज़रअंदाज़ करके उसके छोटे भाई जसवंत सिंह का राजतिलक करके शाहजहाँ ने अमर सिंह के साथ बहुत अन्याय किया था। यह भी संभव है कि वह मारवाड़ को नाबालिग़ राजा के शासन की स्थिति से बचाना चाहता हो।

कुछ आधुनिक इतिहासकारों के अनुसार औरंगज़ेब जसवंत सिंह के मरणोपरांत हुए बेटे अजीत सिंह को इस शर्त पर जोधपुर देने को तैयार था कि वह मुसलमान बन जाए। लेकिन समकालीन स्रोतों से ऐसा कोई आभास नहीं मिलता। 'हुकूमत-री बही' नामक एक समकालीन राजस्थानी कृति के अनुसार जब अजीत सिंह को आगरा में औरंगज़ेब के दरबार में पेश किया गया तो उसने उसे एक मनसब देने पर रज़ामंदी बताई और घोषणा की कि मारवाड़ के दो परगने, सोजत और जेतारण अजीत सिंह की ही जागीर रहेंगे। इस प्रकार औरंगज़ेब एक तरह से मारवाड़ राज्य को परिवार की दो शाखाओं के बीच बाँट देने की सोच रहा था।

दुर्गादास के नेतृत्व में राठौर सरदारों ने इस प्रस्ताव को ठुकरा दिया। उन्हें लगा कि यह मारवाड़ के हित में नहीं होगा। अपने प्रस्ताव की अस्वीकृति पर क्रुद्ध होकर औरंगज़ेब ने हुक्म दिया कि दोनों राजकुमारों और उनकी माताओं को नूरगढ़ में नज़रबंद कर दिया जाए। इससे इससे राठौर सरदार चौंक उठे। अप्रतिम वीरता से शाही सेना के साथ जूझते हुए वे एक राजकुमार को लेकर आगरा से भाग निकले और अत्यंत उत्साह के साथ जोधपुर में उसके सिर पर ताज रख दिया गया।

औरंगज़ेब अब चाहता तो शालीनता के साथ

इस तथ्य को स्वीकार कर सकता था कि इंदर सिंह को राठौरों के बीच कोई समर्थन प्राप्त नहीं था। उसने इंदर सिंह को तो "अयोग्य" करार देकर उसे दरकिनार कर दिया, लेकिन अजित सिंह के प्रति उसने बहुत कड़ा रुख अपनाया। उसने उसे गद्दी का "झूठा दावेदार" घोषित कर दिया। साम्राज्य के सभी हिस्सों से बड़ी संख्या में अच्छे लड़ाके सैनिक बुलाए गए और एक बार फिर औरंगज़ेब अजमेर आ धमका। राठौरों के प्रतिरोध को ठंडा कर दिया गया और जोधपुर पर कब्ज़ा कर लिया गया। दुर्गादास अजित सिंह को लेकर मेवाड़ भाग गया और मेवाड़ के राणा ने उसे छिपने के लिए किसी गुप्त स्थान को भेज दिया।

इसी मुकाम पर आकर मेवाड़ अजीत सिंह के पक्ष से युद्ध में उतर गया। किसी समय मेवाड़ के राणा राजसिंह ने औरंगज़ेब को समर्थन दिया था, लेकिन अब उससे विमुख हो गया था। उसने अपने एक प्रमुख सेनापति के नेतृत्व में 5000 लोगों की एक सेना रानी हाड़ी के दावे के समर्थन के लिए जोधपुर भेजी थी। वह राजस्थान के अंदरूनी मामलों में मुग़लों के हस्तक्षेप के सख्त खिलाफ़ था। इसके अलावा मेवाड़ के दक्षिण और पश्चिम में पड़ने वाले डूँगर पुर, बाँसवाड़ा आदि छोटे राज्यों को, जो किसी समय उसकी अधीनता मानते थे और उसे कर देते थे, उससे अलग कर देने के मुग़लों के प्रयत्नों को लेकर भी वह उनसे क्षुब्ध था। लेकिन इस युद्ध का तात्कालिक कारण मारवाड़ पर मुग़लों का सैनिक कब्ज़ा और अजित सिंह के दावे को मानने से औरंगज़ेब का इनकार कर देना था।

पहला आघात औरंगज़ेब ने ही किया। वह मुग़लों की एक बड़ी सैनिक टुकड़ी लेकर उदयपुर पर चढ़ आया और उसने राणा के शिविर पर भी हमला कर दिया। राणा पहाड़ियों में जा बैठा और वहीं से उसने छापामार हमले करके मुग़लों को परेशान करना शुरू कर दिया। लड़ाई जल्दी ही गतिरोध की स्थिति में पहुंच गई। मुग़ल न तो पहाड़ियों में प्रवेश कर सके और न राजपूतों के छापों का ठीक जवाब दे सके। अब यह युद्ध बहुत अलोकप्रिय हो गया। औरंगज़ेब ने अपने सेनापतियों को बहुत फटकारा, बहुत चेतावनियाँ दीं, लेकिन कोई असर नहीं हुआ। अंत में औरंगज़ेब के ज्येष्ठ पुत्र अकबर ने स्थिति से लाभ उठाने की कोशिश की। उसने अपनी सेना का रुख अपने पिता की ओर मोड़ दिया। राठौर सरदार दुर्गादास से गठजोड़ करके वह अजमेर पर आक्रमण करने के लिए आगे बढ़ा। औरंगज़ेब असहाय-सा हो गया क्योंकि उसके उत्कृष्ट सैनिक अन्यत्र व्यस्त थे। लेकिन अकबर ने कार्रवाई करने में देर कर दी। इस बीच औरंगज़ेब ने झूठे पत्र लिखकर उसके खेमे में फूट पैदा कर दी। शहज़ादे को महाराष्ट्र भागना पड़ा और बादशाह ने चैन की साँस ली।

अब मेवाड़ की लड़ाई औरंगज़ेब के लिए गौण महत्व की हो गई। इस बीच उसने मेवाड़ के नए राणा जगत सिंह से जैसे-तैसे समझौता कर लिया। राणा को जज़िया के एवज़ में अपने कुछ परगने छोड़ने पड़े। उसे मुग़लों के प्रति वफ़ादार बने रहने और अजित सिंह का समर्थन न करने का वचन देना पड़ा और बदले में राणा को पाँच हजार का मनसब प्रदान किया गया। अजित सिंह के बारे

में औरंगज़ेब ने बस इतना वादा किया कि उसके बालिग़ होने पर उसे मनसब और राज्य लौटा दिए जाएँगे।

यह समझौता और अजित सिंह के बारे में दिया गया वचन किसी भी राजपूत को संतुष्ट नहीं कर पाया। मुग़लों ने मारवाड़ पर अपना कब्ज़ा बनाए रखा और छिट-पुट लड़ाई चलती रही। आखिर 1698 ई. में अजित सिंह को मारवाड़ का राजा मान लिया गया। लेकिन मुग़लों ने जोधपुर पर अपना नियंत्रण छोड़ने से इनकार कर दिया। मेवाड़ के राणा भी इस बात को लेकर नाराज़ रहा कि उसे अपने कुछ परगने मुग़लों के हवाले करने पड़े थे। 1707 ई. में औरंगज़ेब की मृत्यु होने तक इस स्थिति में कोई बदलाव नहीं आया।

मारवाड़ और मेवाड़ के संबंध में औरंगज़ेब की नीति फूहड़ और दोषपूर्ण थी। इस नीति के चलते मुग़लों को किसी प्रकार का लाभ नहीं हुआ। राजपूतों के खिलाफ़ मुग़लों की विफलता से उनकी सैनिक प्रतिष्ठा को आँच आई। यह सच है कि मारवाड़ की 1681 ई. की लड़ाई में कुछ छोटे-से ही मुग़ल सैनिकों ने भाग लिया था लेकिन सैनिक दृष्टि से उसका कोई विशेष महत्त्व नहीं था। यह भी सच है कि हाड़ी, कछवाहा तथा अन्य राजपूत सैनिक टुकड़ियाँ मुग़लों की सेवा में लगी रहीं। लेकिन औरंगज़ेब की मारवाड़ नीति के परिणामों को केवल इन्हीं तथ्यों को ध्यान में रखकर नहीं देखा जा सकता। मारवाड़ और मेवाड़ के साथ संघर्ष होने के कारण एक बहुत ही नाजुक दौर में राजपूतों के साथ मुग़लों की मित्रता कमज़ोर पड़ गई। सबसे बुरा तो यह हुआ कि अपने पुराने और विश्वस्त मित्रों के साथ भी मुग़लों के संबंध निर्वाह के बारे में शंका पैदा हो गई और औरंगज़ेब के इरादों पर संदेह किया जाने लगा। इससे औरंगज़ेब के ज़िद्दी और हठी स्वभाव का तो परिचय मिला ही लेकिन इससे यह नहीं माना जा सकता कि, जैसा कि कुछ लोग मानते हैं, औरंगज़ेब हिंदू धर्म को तबाह करने पर तुला हुआ था। 1679 ई. के बाद के दौर में भी उसने बहुत सारे मराठों को उमरा वर्ग में स्थान दिया।

उत्तर-पश्चिम में और जाटों, अफ़ग़ानों तथा राजपूतों के साथ औरंगज़ेब के संघर्ष से साम्राज्य की शक्ति क्षीण हुई. लेकिन असली संघर्ष का क्षेत्र दकन था।

अभ्यास

1. निम्नलिखित शब्दों और अवधारणाओं का अर्थ स्पष्ट कीजिए :
   ज़वाबित, ग़रा, सलामा, मुहतासिब, नौबत, अरहट।
2. जिन घटनाओं के फलस्वरूप औरंगज़ेब गद्दीनशीन हुआ उनका वर्णन कीजिए।
3. जज़िया से क्या तात्पर्य है? औरंगज़ेब द्वारा इस कर के फिर से आरोपित किए जाने के कारणों पर विचार कीजिए।

4. औरंगज़ेब के शासनकाल में मुग़ल साम्राज्य के खिलाफ़ जाटों, अफ़ग़ानों और सतनामियों के विद्रोहों के लिए कौन-कौन से सामाजिक-आर्थिक कारण ज़िम्मेदार थे?
5. औरंगज़ेब के शासनकाल में सिख आंदोलन में कौन-कौन से महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए? इस काल में मुग़ल साम्राज्य और सिखों के बीच के संबंधों के स्वरूप का विवेचन कीजिए।
6. औरंगज़ेब के शासनकाल में राजपूत मुग़ल संबंधों के इतिहास का वर्णन कीजिए। क्या राजपूतों के प्रति मुग़ल नीति में कोई बुनियादी परिवर्तन हुआ? विचार कीजिए।
7. "राजपूत राज्य-मेवाड़ और मारवाड़ के प्रति औरंगज़ेब की नीति एक भूल थी।" विवेचन कीजिए।
8. औरंगज़ेब के धार्मिक विचारों का विवेचन कीजिए। उनसे उसकी राज्य-संबंधी नीति कहाँ तक प्रभावित हुई?
9. "औरंगज़ेब के शासनकाल में मुग़ल साम्राज्य अपने प्रादेशिक विस्तार की पराकाष्ठा पर पहुँच गया था।" भारत के मानचित्र की रूपरेखा की सहायता से इस कथन की वास्तविकता दर्शाइए।